वैदिक परम्परा से निकलने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय इन 6 सम्प्रदायों में ही रखे जाते हैं—मीमांसा, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग। पर जैसा कि हमने देखा है, इनमें से केवल दो ही को वैदिक परम्परा का अभिन्न अंग माना जा सकता है। उनमें भी परस्पर गहरा मतभेद है, पर बहुत लोगों ने उस मतभेद को कम करके देखनी की चेष्टा की है और यह कहा है कि वास्तव में वे अलग न होकर एक ही मीमांसा के दो अंग हैं। एक पूर्व-मीमांसा है और दूसरी उत्तर-मीमांसा। एक का सम्बन्ध कर्म से है और दूसरी का ज्ञान से। जहाँ पहली समाप्त होती है वहाँ से दूसरी प्रारम्भ होती है और इस प्रकार वे एक-दूसरे की पूरक हैं विरोधी नहीं। यही नहीं, यह भी कहने की चेष्टा की जाती है कि दोनों को बीच में मिलाने वाला एक देवता-काण्ड़ या संकर्षण-काण्ड़ था जिसमें विभिन्न देवताओं की उपासना की विधि बताई गई थी और इस प्रकार वैदिक युग के बाद, जो एक पूर्ण रूपेण बाहरी क्रिया थी, उससे किसी फल की प्राप्ति के लिए देवताओं की उपासना द्वारा चित्त की शुद्धि की जाती थी। उसके बाद मनुष्य ब्रह्म-ज्ञान का अधिकारी होता था। पर यह सब कितना ही रोचक लगे, यह नहीं बता पाता कि अगर ऐसा था तो फिर मीमांसा और वेदान्त में इतना विरोध क्यों हुआ? यही नहीं, एक के लिए जो अर्थवाद है वही दूसरी के लिए वास्तव प्रतिपादितार्थ। मीमांसा और वेदान्त में विरोध यहीं तक सीमित नहीं है, वह तो करीब-करीब हर बात को लेकर है। जो लोग 'उपासना' की बात करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि आचार्य शंकर ने उपासना को कर्म की कोटि में रखा और इस आधार पर उसको ब्रह्म-ज्ञान दिलाने में अक्षम माना। यह ठीक है कि स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों में और आरण्यकों में भी यज्ञ का अर्थ ढूँढ़ने की कोशिश है, पर आज भी जब कोई वैदिक यज्ञ करता है तो वह उसको उसी रूप में करता है, जैसे याज्ञिक उसे करने को कहते हैं। जो लोग यज्ञ के अन्तर्गत सांकेतिक अर्थ की बात करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि राजसूय और अश्वमेध जैसे यज्ञ चेतना के आन्तरिक रूप से सम्बन्धित नहीं किये जा सकते। ऐसा ही काफी हद तक दर्श पूर्णमास और ज्योतिष्टोम के बारे में भी सत्य प्रतीत होता है। और अगर ऐसा नहीं होता तो **जैमिनीय मीमांसासूत्र** में विस्तार से यज्ञ की विधियों की चर्चा क्यों की जाती और यह क्यों कहा जाता है कि कौन-सी विधि ठीक है और केवल उस विधि से ही उस विशेष फल की प्राप्ति होगी जिसके लिए यज्ञ किया जाता है?

❑

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का स्वरूप और उसकी परम्पराओं के मूल स्वर (2)

दार्शनिक परम्पराएँ और उनका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के मूल सूत्र, जिनसे इन दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रारम्भ माना जा सकता है, करीब-करीब ईस्वी शताब्दी के शुरू में रचे जा चुके थे। इसके बारे में यह ठीक-ठीक कहना कि इनकी रचना कब हुई थी मुश्किल है लेकिन फिर भी इतना तो साफ ही है कि **मीमांसा सूत्र** सब से पहले रचे गए थे और **ब्रह्म सूत्र** उसके बाद। कुछ लोग **वैशेषिक सूत्रों** की रचना **मीमांसा सूत्र** से भी पहले मानते हैं। लेकिन अधिकतर लोग इसे स्वीकार नहीं करते। इसके बाद **वैशेषिक सूत्र** की रचना मानी जाती है और उसके बाद **न्याय सूत्र** की। **योग सूत्र** की रचना सबसे बाद में हुई है ऐसा जान पड़ता है, और जैसा कि हम सांख्य के बारे में बहुत पहले कह चुके हैं, उसका आदि ग्रन्थ, जो **षष्ठि तन्त्र** के नाम से जाना जाता है, उसको सूत्र की संज्ञा नहीं दी गई है।

जो लोग केवल दर्शन के ग्रन्थ ही पढ़ते हैं या सिर्फ उनके बारे में ही पढ़ते हैं उन्हें कुछ ऐसा लगता होगा कि जैसे इन ग्रन्थों के रचयिता कहीं किसी जंगल में बैठकर संसार से अलग-थलग अपने शिष्यों के साथ इन सब बातों की चर्चा करते थे। पर वास्तव में ऐसा नहीं था, क्योंकि यदि हम उस समय के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को देखें तो हमें आश्चर्य होगा कि उस समय की संस्कृति एवं सभ्यता कितनी समृद्ध थी। यह ठीक है कि मौर्य साम्राज्य खत्म हो चुका था। अशोक, जिसके प्रसिद्ध शिलालेख अब भी भारत के कोने-कोने में पाए जाते हैं, उसका राज्य भी समाप्त हो गया था। पर यह बात ध्यान में रखने की है कि अशोक के काल में बौद्ध धर्म का भारत में ही नहीं भारत के बाहर भी प्रचार हुआ था। उसके समय में स्वयं उसके पुत्र और पुत्री धर्म के प्रचार के लिए सिंहल द्वीप गए थे जो आज श्रीलंका के नाम से जाना जाता है। बौद्ध धर्म का यह अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष कभी

भुला नहीं देना चाहिए और इसके साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि अशोक ने बौद्ध धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों का भी संरक्षण किया था। यह वास्तव में भारत की पुरानी परम्परा के अनुकूल ही था जहाँ राजा का धर्म ही यह माना गया था कि वह अपने राज्य में सब सम्प्रदायों को अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार अध्यात्म साधना करने की स्वतंत्रता दे, उसमें विघ्न न डाले, वह स्वयं चाहे किसी मत को भी मानने वाला हो। पर राजा होने के नाते उसका यह धर्म भी माना गया था कि वह सब को संरक्षण भी दे।

मौर्यकाल में भारत का राजनीतिक केन्द्र पूर्व में बिहार के आस-पास बन चुका था और यह सब को पता है कि भगवान महावीर और भगवान बुद्ध दोनों इसी प्रदेश में हुए थे और दोनों ने अपने उपदेश इसी प्रदेश के प्रसिद्ध नगरों में दिये थे। बौद्ध और जैन मत श्रमण परम्परा में होते हुए भी नगर-केन्द्रित सम्प्रदाय थे और इनके मानने वाले भी अधिकतर धनी और व्यापारी लोग थे जिनकी अपनी 'श्रेणियाँ' थीं और जो उस समय की राज्य-व्यवस्था में काफी प्रभाव रखती थीं। वे कुछ-कुछ आजकल के चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स की तरह थीं। किन्तु इनका सम्बन्ध वस्तुओं के उत्पादन से सीधा जुड़ा हुआ होता था जिस कारण उन्हें अंग्रेज़ी में जिन्हें 'गिल्ड' कहते हैं, उनके समान कहा जा सकता है।

इस समय भारत का राजनीतिक केन्द्र फिर उत्तर पश्चिम में स्थापित हो चुका था। कुषाण साम्राज्य, जिसका उत्तर भारत में प्रभुत्व था, उसका साम्राज्य मध्य एशिया में और पश्चिम एशिया में दूर-दूर तक फैला हुआ था और एक तरह से वह तीन बड़े साम्राज्यों के बीच स्थित था। एक तरफ चीन का साम्राज्य था तो दूसरी तरफ ईरान का, और तीसरी तरफ रोम का प्रसिद्ध साम्राज्य था। इन सब के बीच में स्थित होने के कारण इसके व्यापारिक सम्बन्ध इन तीनों साम्राज्यों से थे और भारत के पश्चिमी किनारे पर होने वाले बन्दरगाहों में रोम और मध्य एशिया के देशों से बराबर व्यापार होता था। दूसरी ओर मध्य एशिया से आने वाले रास्तों पर चीन से बराबर सामान आया-जाया करता था। रोमन साम्राज्य के अनेक सिक्के दक्षिण भारत में आज भी मिलते हैं। हालांकि उत्तर भारत में या मध्य एशिया में वे बहुत ही कम मिलते हैं किन्तु इसका कारण यही बताया जाता है कि रोम के सोने के सिक्के कुषाण साम्राज्य में गलाकर उसके अपने सिक्कों में परिवर्तित कर दिये जाते थे। दक्षिण भारत में चाँदी के सिक्के ही चलते थे इसलिए व्यापार के लिए जो रोमन साम्राज्य से सोने के सिक्के आते थे वे उन्हें वैसे ही काम में लेते थे।

इन सब बातों का महत्त्व यह है कि इन्हीं मार्गों पर भारत से पश्चिम एशिया और मध्य एशिया और चीन में बौद्ध और हिन्दू मतावलम्बियों ने अपने मतों का

प्रचार किया। इन व्यापार-मार्गों से ही बौद्ध भिक्षु अन्य देशों में जाते थे और भगवान बुद्ध के मत का प्रचार करते थे। इन्हीं व्यापार-मार्गों पर अनेक बौद्ध भिक्षुओं के संघ स्थान थे जिनके अवशेष आज भी मिलते हैं। यही नहीं, मौर्य काल में तक्षशिला से पाटलिपुत्र का जो राजमार्ग बनाया गया था वह कुषाण काल में भी उपयोग में आता था और उसी के द्वारा मध्य एशिया और पश्चिम एशिया से व्यापार होता था। आज भी मथुरा के संग्रहालय में इस काल की बहुत मूर्त्तियाँ हैं, कनिष्क की मूर्त्ति उस काल की याद दिलाती है। कुषाण साम्राज्य भारत में उत्पन्न हुए अनेक धर्मों को भारत के बाहर फैलाने में सहायक बना। इस संदर्भ में यह भी ध्यान में रखने की बात है कि हालांकि कुषाण साम्राज्य में भी प्रधानत: बौद्ध धर्म को स्वीकारा और संरक्षण दिया गया था पर उन्होंने मौर्य राजाओं की तरह अन्य धर्मों को भी उसी प्रकार सहायता और संरक्षण दिया जैसा पहले के राजा देते थे। कुषाणों के पहले इसी प्रदेश में शक साम्राज्य था जिनका संवत् आज भी भारत में चलता है और कुछ-कुछ ऐसा भी पता चलता है कि कुषाण काल में गुजरात प्रदेश में शकों के कुछ उत्तराधिकारी राज्य करते थे और जिन्होंने शायद कुषाण साम्राज्य का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था।

इस सब परिवेश की चर्चा करने का यहाँ प्रयोजन केवल इतना ही है कि भारत की विभिन्न मूल दार्शनिक परिस्थितियों का जन्म एक ऐसे वातावरण में हुआ था जब देश की संस्कृति और सभ्यता समृद्ध थी और उसका चारों ओर के क्षेत्रों से गहरा सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध का केवल राजनीतिक और वाणिज्यिक स्वरूप ही नहीं था बल्कि इसमें विचारों का आदान-प्रदान और कला-कौशल आदि में एक-दूसरे से सहज रूप में लेन-देन भी अपनी चरम सीमा पर थे। इसके कुछ ही दिन बाद अनेक चीनी यात्री भारत में बौद्ध मतों को समझने के लिए आये और यहाँ से बहुत सारे ग्रन्थ अपने देश में ले गए जिनका उन्होंने वहाँ जाकर अनुवाद किया। ऐसा ही दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी हुआ। बर्मा, इण्डोनेशिया, मलाया, थाईलैण्ड, कम्बोडिया आज भी इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। यह ठीक है कि अब तक भारतीय दर्शन के इतिहासकारों की दृष्टि वैदिक परम्परा से जुड़े हुए दार्शनिक संस्थानों में ही अटकी रही है, पर ईसा से प्रारम्भ होने वाले 700 साल का केन्द्र तो बौद्ध दर्शन ही था जिसका विस्तार भारत से बाहर भी हुआ। इसलिए अगर हमें उस युग के दर्शन की कहानी लिखनी है तो हमारा केन्द्र-बिन्दु बौद्ध दर्शन होना चाहिए न कि वैदिक परम्परा से जुड़ा दर्शन, हालांकि इसमें कोई शक नहीं है कि इन दर्शनों का बोलबाला भारत में 1200 ईसवी में नालन्दा के नष्ट होने के साथ बौद्ध दर्शन की समाप्ति के बाद फिर से हुआ।

जैन दर्शन का प्रारम्भ भी इसी काल में माना जाता है और उसके प्रथम प्रसिद्ध दार्शनिक कुन्दकुन्द शायद ईसा के बाद दूसरी-तीसरी शताब्दी में हुए थे। जैन दार्शनिकों का प्रभुत्व इतना तो नहीं था जितना कि बौद्धों का था, पर पहले हज़ार साल में अगर जैन दार्शनिकों की संख्या गिनी जाये तो वह भारत के अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों से काफी अधिक थी। बौद्ध दार्शनिकों की संख्या तो सब से ज़्यादा थी, करीब-करीब 41। अगर हम पौटर द्वारा संगृहीत दार्शनिक पुस्तकों की सूची देखें तो उससे पता चलता है कि जैन दार्शनिकों की संख्या इन हज़ार वर्षों में 38 के बराबर है, जो बौद्धों से तो बहुत कम है पर फिर भी मीमांसा, वेदान्त, न्याय, सांख्य, योग आदि के दार्शनिकों की संख्या से अधिक प्रतीत होती है। जैन दार्शनिकों का असली बोलबाला ईसा के एक हज़ार साल बाद प्रारम्भ होता है। इसके वास्तव में क्या कारण थे यह कहना कठिन है पर प्रारम्भिक एक हज़ार साल में जैन दर्शन का विकास किस प्रकार हुआ इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इस हज़ार साल में भारत बौद्ध दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु था।

नागार्जुन, जो महायान और शून्यवाद के प्रधान प्रवर्तकों में माने जाते हैं, उनके बाद असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक हुए। असंग से पहले मैत्रेयनाथ का नाम लिया जाता है और यह कहा जाता है कि उन्होंने बौद्ध परम्परा में विज्ञानवाद का प्रारम्भ किया। दर्शन के संदर्भ में यह जानना ज़रूरी है कि दार्शनिक समस्या कैसे उत्पन्न होती है और उसका उत्तर विभिन्न दार्शनिक कैसे देते हैं। सहज रूप में यह सब को पता है कि मनुष्य-जगत् का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है और मनुष्य के पास केवल पाँच ही ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। पर साधारणत: ये इन्द्रियाँ जानवरों के पास भी हैं। तब यह सवाल पैदा होता है कि जानवरों के ज्ञान में और मनुष्य के ज्ञान में भेद किस प्रकार किया जाये? मनुष्य क्योंकि आत्मचेतन प्राणी है इसलिए वह अपने अनुभव के सब आयामों पर सोचता है और उनको समझने की चेष्टा करता है। इस समझने की चेष्टा में ही दर्शन का भी जन्म होता है। ऐसा नहीं है कि पशु अपनी इन्द्रियों द्वारा भ्रमित नहीं होता, पर उस भ्रम के होने पर उसके सामने कोई विशेष समस्या उत्पन्न नहीं होती। वह भ्रम हट जाता है तो वह उस घटना को भूल जाता है। कोई बिल्ली जब शीशे में अपना प्रतिबिम्ब देखती है तो उसको आश्चर्य अवश्य होता होगा। कभी-कभी तो आप पक्षियों को भी इसी प्रकार के भ्रम की अवस्था में देख सकते हैं। पर इससे उनके सामने कोई ऐसी मूलभूत समस्या उत्पन्न नहीं होती जिसका वे समाधान ढूँढें जबकि इसके विपरीत दार्शनिक बुद्धि के सामने यह सवाल पैदा होता है कि यदि प्रत्यक्ष के ज्ञान में सहज भ्रम उत्पन्न हो सकता है तो क्या जब हमें लगता है कि यह ज्ञान सत्य है तो वास्तव में वह भ्रम नहीं हो सकता? और आखिर इस भ्रम का निवारण

कैसे होता है? अगर प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान भी ग़लत हो सकता है तो उसका निराकरण स्वयं प्रत्यक्ष तो नहीं कर सकता, उसके लिए तो किसी अन्य शक्ति का सहारा लेना पड़ेगा और वह बुद्धि ही हो सकती है जो मनुष्य के सारे अनुभव पर एक स्वतंत्र चिन्तन की प्रक्रिया को प्रारम्भ करती है। और फिर प्रत्यक्ष-परक ज्ञान भी तो हमेशा नहीं होता! जब मनुष्य सोता है तो उसको बाह्य जगत् का कोई ज्ञान नहीं होता। हालांकि उसको स्वप्न में विषय दिखाई देते रहते हैं। पर स्वप्न भी समाप्त हो जाते हैं। हम गहरी नींद की बात भी करते हैं जिसमें स्वप्न होते ही नहीं। और जब स्वप्न भी नहीं होते तो किसी विषयवस्तु का भी ज्ञान नहीं होता। और फिर, स्वप्नों में ज्ञान तो होता है पर सच-झूठ का सवाल नहीं होता।

पर सच-झूठ का फैसला करने पर जागृत अवस्था के अनुभव के संदर्भ में सच-झूठ का फैसला करने के लिए अगर हम बुद्धि की शरण में जाते हैं तो क्या यह तय हो सकता है कि बुद्धि सच-झूठ का फैसला निश्चयात्मक रूप में कर सकती है? क्या बुद्धि के अपने वैसे ही भ्रम नहीं हो सकते जैसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के होते हैं?

पर अगर हम यह मान भी लें कि बुद्धि के भी अपने स्वरूपजन्य सहज भ्रम होते हैं तो उसका पता बुद्धि को तो कभी लग ही नहीं पाएगा क्योंकि बुद्धि की प्रक्रिया के होने का मतलब ही यह होगा कि वहाँ भ्रम भी उत्पन्न हो रहा है, जिस प्रकार कि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष जगत् का ज्ञान होने का अर्थ ही यह होता है कि इन्द्रियों के स्वरूप से उत्पन्न जो भ्रम पैदा होते हैं वे वहाँ अनिवार्य रूप से मौजूद हैं, जैसे कि सूर्य का चलता हुआ दिखना, या क्षितिज पर ज़मीन और आसमान का मिलना, या किसी सीधी छड़ी का पानी में टेढ़ा दिखना। ये भ्रमपूर्ण होते हुए भी सभी को दिखाई देते हैं और अगर बुद्धि के द्वारा यह पता भी चलता है कि असल में ऐसा नहीं है जैसा दिखाई देता है तब भी ये वैसे ही दिखाई देते रहते हैं जैसे कि उनके भ्रमपूर्ण होने का पता होने से पहले। कहने का आशय यह है कि ऐसा दिखाई देना मनुष्य की इन्द्रियों का अपना ही स्वभाव है। यदि इन्द्रियाँ होंगी तो ऐसा ही दिखेगा और इस देखने में ज्ञानी-अज्ञानी का कोई भेद नहीं होता। हाँ, ज्ञानी होने का मतलब यह ज़रूर है कि उसको दिखता तो वैसा ही है जैसा अज्ञानी को पर वह अपने से यह कहता है कि जैसा दिखता है वह असल में वैसा नहीं है और अगर कोई यह पूछे कि वैसा क्यों नहीं है तो उसका वह कोई संतोषजनक उत्तर दे सकता है या पता नहीं होने पर उत्तर खोजता है। पर अगर बुद्धि के भी अपने ऐसे भ्रम हैं तो उनका पता बुद्धि को स्वयं को कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि जिसके पास मानव जैसी बुद्धि होगी उसे विचार-जगत् वैसा ही परिलक्षित होगा। यह समझने के लिए कि बुद्धि को वास्तव में भ्रम है हमें बुद्धि के परे किसी अन्य शक्ति

की कल्पना करनी पड़ेगी जिसकी सहायता के द्वारा ही उसका भ्रमपूर्ण होना जाना जा सकता है।

पश्चिमी परम्परा के प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट ने इस समस्या की ओर इशारा किया था पर उन्होंने इसका कोई हल नहीं दिया। उन्होंने यह बताने की चेष्टा की थी कि बुद्धि का अपना स्वरूप ही ऐसा है कि वह इन मूलभूत भ्रमों को जन्म देती है। पर उन्होंने यह भी बताया था कि इनकी 'सहज भ्रामकता' कैसे जानी जा सकती है! प्रत्यक्ष ज्ञान की समीक्षा के सन्दर्भ में उन्होंने यह दिखाने की कोशिश की थी कि देश और काल, जो प्रत्यक्ष जगत् के अनिवार्य अंग हैं और ऐसे दिखाई पड़ते हैं जैसे ये इन्द्रिय-व्यापार की प्रक्रिया से स्वतंत्र विषय रूप में जगत् में स्थित हैं, वास्तव में ऐसे नहीं हैं, क्योंकि उनको वैसा मानने पर ऐसी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं जिनका कोई निराकरण हो ही नहीं सकता। वे दोनों (देश और काल) असीम और अनन्त दिखाई देते हैं, किन्तु जो असीम और अनन्त है वह यदि विषय रूप में लिया जाए तो हमेशा उन वैचारिक कठिनाइयों को जन्म देगा जिनका समाधान सिद्धान्ततः असम्भव है। इसी को आधार बनाकर उन्होंने यह कहने की कोशिश की कि जो किसी प्रक्रिया के मूलभूत स्वरूप से ही उत्पन्न होता है क्योंकि वह उसमें स्वयं में ही अन्तर्निहित है वह उसमें सहज रूप में विद्यमान है और इसीलिए विषय रूप में उपस्थित होता हुआ प्रतीत होता है। पर उसको ऐसा न जानने से ही उस सारे क्षेत्र की मूलभूत विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं जिनका निराकरण यह जानकर ही किया जा सकता है कि वे वास्तव में उस क्षेत्र के 'विषय' नहीं हैं पर उस क्षेत्र के 'क्षेत्र' होने की पूर्वमान्यताएँ हैं। कहने का अर्थ यह है कि वे ही क्षेत्र को 'क्षेत्र' बनाते हैं या उसको आकार देते हैं या उसकी परिधि या रूप रचते हैं। पर साधारणतः चेतना को यह प्रतीत नहीं होता है कि वह उनको उसी विषय के रूप में लेती है जैसे अन्य विषय वस्तुओं को। बुद्धि के सन्दर्भ में भी उन्होंने बुद्धि की बौद्धिक प्रक्रिया के इस स्वरूप को समझने की चेष्टा की है जो यह बताए कि बौद्धिक प्रक्रिया की पूर्वमान्यता क्या है, या दूसरे शब्दों में कहें तो उस प्रक्रिया का अपना स्वरूप क्या है। बौद्धिक चेतना से जो जगत् साधारणतः उत्पन्न होता है उसमें वे विषय-रूप दिखाई देते हैं, बुद्धि के अपने नहीं।

कान्ट का यह विचार अत्यन्त गम्भीर और विश्व-दर्शन के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि उन्होंने दार्शनिक विचार को एक नई दिशा दी और उसका ध्यान एक नई समस्या की ओर मोड़ा। कान्ट ने यह सवाल उठाया कि इन्द्रिय-जगत् की संरचना का आकारिक स्वरूप जो प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया में निहित है वह तो बुद्धि ही उजागर कर सकती है पर बौद्धिक प्रक्रिया के स्वरूप में जो आकारिक पूर्वमान्यताएँ हैं और जिनके आधार पर ही बौद्धिक जगत्

की रचना होती है उनको कौन उजागर करेगा? शायद उनका खयाल था कि बुद्धि का अपना स्वरूप ही ऐसा है कि वह विषय पर ही चिन्तन नहीं करती बल्कि अपने आप पर भी चिन्तन कर सकती है, क्योंकि वह मनुष्य की आत्मचेतना की अनिवार्य अंग है। इसलिए जहाँ एक ओर वह प्रत्यक्ष जगत् पर चिन्तन करती है वहीं वह दूसरी ओर अपने पर भी सोचती है। पर अगर ऐसा है तो सवाल यह उठेगा कि आत्मचेतना का अपना स्वरूप क्या है और इस आत्मचेतना की प्रक्रिया के द्वारा वह जो जगत् रचती है उसके संस्थानगत मौलिक कर्म क्या होने चाहिएँ? कान्ट ने यह सवाल नहीं उठाया और उसके बाद के होने वाले दार्शनिकों ने भी इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया।

लेकिन इस पर एक अन्य दृष्टि से विचार करें तो ऐसा लगेगा कि मनुष्य का हर आयाम एक जगत् की सृष्टि करता है और उस सृष्टि करने की प्रक्रिया की कुछ मूलभूत पूर्वमान्यताएँ होती हैं जो वास्तव में उस सृष्ट जगत् को रूप प्रदान करती हैं। ऐसा देखने पर वह जगत् जो विषय रूप में प्रदत्त होता हुआ दिखाई देता है वह मनुष्य ही को ऐसा मालूम पड़ता है कि वह उसका सृष्ट जगत् है। बौद्ध विज्ञानवाद की भी यही दृष्टि है हालांकि उनके विचार ने वह दिशा नहीं ली जो कान्ट के विचार में निहित है। एक तरह से स्वप्न के संसार में मनुष्य की चेतना कुछ सृष्टि करती है ऐसा लगता है, दूसरी तरह से कला-जगत् में मनुष्य सृष्टि करता है ऐसा भी सब को मालूम है। तीसरी ओर सामूहिक रूप से मनुष्य समाज और संस्कृति की रचना करता है जिसमें कायदे और कानून एक जगत् की रचना करते हैं जिसमें मनुष्य रचयिता भी है और अपनी ही संरचना का कैदी भी है। आखिर कानून तो आदमी ही बनाता है और उसी कानून से कभी-कभी कानून बनाने वाला स्वयं भी जेल भेज दिया जाता है। मनुष्य का रचना-पक्ष विज्ञानवाद को जन्म देता है। पर बौद्ध विज्ञानवाद की अपनी विशेषताएँ हैं जिनका हम थोड़ा सा विवरण यहाँ देंगे।

अगर कान्ट ने मानव-जगत् की संरचना के मूल में कुछ ऐसी बौद्धिक प्रत्ययों की कोटियों को माना था जो स्वयं बुद्धि के स्वरूप में ही निहित हैं तो बौद्ध विज्ञानवाद ने मानव-जगत् की सृष्टि के मूल में एक अनादि वासना को देखा था जो उनके अनुसार इस जगत्-प्रतीति की हेतु बनती है। वैयक्तिक स्तर पर तो जो बात स्वप्न में साफ-साफ दिखाई देती है और जागृत अवस्था में भी काफी हद तक विचार करने पर स्पष्ट परिलक्षित होती है वह यह है कि हमारा प्रत्येक का जगत् भी वही होता है जो हमारी इच्छा, रुचि और पुरुषार्थ द्वारा रचित होता है। जैसे ही हम किसी क्षेत्र में रुचि लेना बन्द कर देते हैं या हमें उसमें रस या आनन्द की अनुभूति नहीं होती, या उसके अपने निहित मूल्यों और आदर्शों को अर्थहीन मानते

हैं वैसे ही वह जगत् हमारे लिए एक तरह से जगत् ही नहीं रहता। अधिक गहराई से देखें तो इस जगत् की संरचना उन सब लोगों के मिलकर जानने से उत्पन्न होती है जो उसके नियमों का पालन करते हैं और उसके पुरुषार्थ को साधने में रस और आनन्द लेते हैं। उसी में जीत और हार होती है। खेल इसका सबसे पहला उदाहरण है। सोचिए, आज के युग में हर रोज़ लाखों लोग अनेक प्रकार के खेलों में संलग्न रहते हैं और उनकी हार-जीत के बारे में लाखों दर्शक उस रस-जगत् का आनन्द लेते हैं। यही नहीं, अनेक तो उससे इतना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं कि खेलने वाले की हार-जीत स्वयं उनकी हार-जीत हो जाती है, यहाँ तक कि हारने पर कई लोग तो आत्महत्या भी कर लेते हैं। अब विचार करें यह कैसा जगत् है? इसमें सुख-दुःख, आनन्द, इच्छा, प्रयत्न सब कुछ है। 24 घण्टे लोग इसमें लगे रहते हैं और उनके जीवन का पुरुषार्थ ही यह बन जाता है कि वे अपने खेल में दुनिया के सबसे अच्छे खिलाड़ी माने जायें। पर अगर किसी की इसमें रुचि नहीं है तो उसके लिए यह जगत् एक प्रकार से होता ही नहीं है। खेल तो इसका सहज उदाहरण है जो सब की समझ में आ सकता है, पर अन्य क्षेत्र भी कुछ इससे कम विस्मयकारक नहीं हैं। शेयर बाज़ार लीजिए जहाँ लाखों का सौदा रोज़ होता है और कोई एक क्षण में ही रईस बन जाता है दूसरा दिवालिया। और भी अनेक क्षेत्र इसी प्रकार अपने-अपने जगत् की रचना करते हैं चाहे वह कला के हों या शक्ति या ज्ञान के या अध्यात्म के, इन सब के मूल में इच्छा, रुचि ओर पुरुषार्थ होते हैं जो इन विभिन्न जगतों की रचना करते हैं। बुद्धि और अहम्-भाव सृष्टि करते हैं, बनाते हैं, क्योंकि ये दोनों ही उन विशिष्ट इच्छाओं, रुचियों और पुरुषार्थों का आधार होते हैं। जन्म के साथ ही देह, मन, बुद्धि और अहम् का मनुष्य के सन्दर्भ में जन्म होता है और मरण तक ये सब उसके साथ रहकर एक मूलभूत जगत् की सृष्टि करते हैं जिसके अन्य सब विशिष्ट जगत् इच्छानुसार, रुचि के अनुसार और पुरुषार्थ के द्वारा रचित होते हैं। पर बौद्ध विज्ञानवाद, और एक तरह से कहें तो सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति में, यह कहने की कोशिश की गई है कि मनुष्य का जन्म कोई आकस्मिक चीज़ नहीं है। उसके पीछे अनादि वासना-प्रवाह है जो बार-बार जन्म-मरण का हेतु बनता है। प्रसिद्ध पश्चिमी दार्शनिक शोपेनहावर ने, जो भारतीय औपनिषद दर्शन से बहुत प्रभावित थे, इसको 'विल टू लिव' का नाम दिया है। हिन्दी में इसे हम जिजीविषा कह सकते हैं। विज्ञानवाद की मूल दृष्टि यही है कि चेतना अपने जगत् की रचना करती है और इन रचनाओं का मूल कोई ऐसी इच्छा या वासना है जिसका उसको स्वयं पता नहीं है। पर अगर ऐसा है तो फिर इच्छा की निवृत्ति कब और कैसे होती है? क्या एक इच्छा के समाप्त होने पर दूसरी इच्छा जन्म लेती है? क्या यह कोई अनन्त और अनिवार्य शृंखला है

जिसका न कोई आदि है और न कोई अन्त? भारतीय मानस ने इसका अन्त हमेशा माना है यद्यपि इस का आरम्भ नहीं माना है।

एक प्रकार से बौद्ध विज्ञानवाद की यह दृष्टि बुद्ध की उस दृष्टि की व्याख्या ही कही जा सकती है जिसमें सब को 'दुःख' रूप में देखा गया है और दुःख का मूल कारण उस तृष्णा को माना गया है जो कभी शान्त नहीं हो सकती। 'दुःख' का यहाँ अर्थ ही यह है कि सब नाशवान् है। परन्तु यह तो तभी कहा जा सकता है जब इस की पूर्व-मान्यता यह हो कि जो चिरन्तन है, स्थायी है, अनश्वर है वही सुखात्मक हो सकता है या वैसी अवस्था को ही सुख का नाम दिया जा सकता है। अगर बुद्ध की दृष्टि की यह पूर्वमान्यता है तो फिर उसमें और वैदिक परम्परा से जुड़ी हुई अधिकांश दार्शनिक दृष्टियों में क्या कोई भेद रह जाएगा? वास्तव में यदि हम बौद्ध दृष्टि को उसके 'तत्त्वज्ञान' सम्बन्धी विचार के परिप्रेक्ष्य में देखें तो ऐसा लगेगा कि बुद्ध की बात को इस प्रकार से समझने में एक मूलभूत 'भूल' यह है कि उस दृष्टि में तो 'दुःख' तभी उत्पन्न हो सकता है जब हम सत् के स्वरूप को ठीक प्रकार से न समझें। और चूँकि सत् का स्वरूप न नित्य है, न चिरन्तन और न स्थायी इसलिए उसको ऐसा मानने पर ही मूल दृष्टि-दोष उत्पन्न होता है और वही मनुष्य के 'दुःख' का कारण बनता है। हम सहज रूप में यह मानते हैं कि जो जैसा है वैसा ही रहेगा और इसी से भ्रम उत्पन्न होता है। चूँकि कुछ भी जैसा है वैसा नहीं रहता, इसलिए मनुष्य हमेशा 'परेशान' नज़र आता है। इस संदर्भ में यह बात ध्यान रखने की है कि बौद्ध दर्शन के 'सत्' को इस प्रकार देखने की प्रवृत्ति ने ही क्षणिकवाद को जन्म दिया, जिसके अनुसार सत् वास्तव में क्षणिक है। इस क्षणिक के आधार में कोई स्थिर-शाश्वत सत्य है, यह मानना ही अज्ञान और दुःख है।

अगर हम बौद्ध दृष्टि को इस तरह से देखें तो लगेगा कि 'दुःख' का मूल कारण यह भ्रम ही है कि सत् परिवर्तनशील नहीं है। पर क्या दुःख-सुख को इस प्रकार से देखना ठीक है? वैसे तो दुःख भी होता है और सुख भी। और चेतना की ऐसी अवस्थाएँ बहुत-सी होती हैं जिन्हें हम न सुख ही कह सकते हैं और न दुःख ही। और 'सुख-दुःख' भी कोई एक प्रकार के नहीं होते और यह भी सही नहीं लगता कि दोनों में सदैव इतना फर्क है कि उनका एक-दूसरे से न सम्बन्ध है और न कोई मिश्रण। यह ठीक है कि सुख स्थायी नहीं होता, पर अगर वह स्थायी हो तो शायद सुख ही न रहे, दुःख में परिवर्तित हो जाये। दूसरी ओर दुःख भी तो स्थायी नहीं रहता और उसके होने पर यह सांत्वना होती है कि यह भी चला जाएगा। कहने का आशय यह है कि सुख-दुःख के सम्बन्ध में बौद्ध चिन्तन न उतना स्पष्ट है न उतना सत्य जितना सब लोग मान बैठे हैं। एक प्रकार से यह बात सारे भारतीय चिन्तन के बारे में कही जा सकती है जो उसमें सुख-दुःख के सम्बन्ध में

मिलता है। 'सत्' और सुख-दु:ख के सम्बन्ध को किस प्रकार समझें यह अपने आप में एक प्रश्न है जिस पर स्वतंत्र रूप से विचार होना चाहिए।

एक तरह से देखें तो सुख-दु:ख का विचार मनुष्य को मूल रूप में भोक्ता मानता है और चेतना को एक ऐसे रूप में देखता है जैसे उसका कार्य केवल आस्वाद लेना है। उपनिषद् की प्रसिद्ध उक्ति में तो यह स्पष्ट ही कहा गया है कि एक डाल पर दो मित्र पक्षी बैठे हैं जिनमें एक फल चखता है और उसका आस्वाद लेता है और उससे उसे सुख-दु:ख होता है और दूसरा पक्षी उसे केवल देखता है, वह चखता नहीं है। चेतना के ये दो पक्ष ही भारतीय चिन्तन में प्रधानत: दिखते हैं और इसके अनुसार या तो चेतना आस्वाद चखती है, भोगती है और या केवल देखती है। इस दृष्टि में कर्म की कहीं चर्चा नहीं है, और न ही चेतना को 'रचयिता' के रूप में देखा गया है। चेतना स्वयं सृष्टि भी कर सकती है ऐसा तो इस दृष्टि में सोचा ही नहीं गया है। हालांकि काश्मीर शैव दर्शन में 'विमर्श' को चेतना का सहज स्वाभाविक और अनिवार्य गुण माना गया है परन्तु वहाँ भी यह स्पष्ट नहीं है कि 'विमर्श' का अर्थ केवल 'विचार प्रक्रिया' है या कि सृजन की शक्ति? यह ठीक है कि बाद में 'शक्ति' की चर्चा भी की गई है और शिवशक्ति को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा भी उस दर्शन में मिलती है, पर इस सब विचार में साधारणत: शिव की ही प्रधानता है और शक्ति को शिव का सहज अन्तरंग रूप नहीं माना गया है। हालांकि यह भी सच है कि यह कहा गया है कि शक्ति के बिना शिव केवल 'शव-मात्र' है। जो भी हो, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि चेतना के स्रष्टा रूप पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। जहाँ कर्म की चर्चा है भी, वहाँ भी कर्म को या तो धर्म के परिप्रेक्ष्य में देखा गया है या काम और अर्थ पुरुषार्थों के संदर्भ में, और अन्ततोगत्वा उसे बन्धन का कारण ही माना गया है। मनुष्य की परमावस्था उसी को माना गया है जिसमें कर्म तो क्या कर्म की सम्भावना भी नहीं हो। जहाँ शक्ति की चर्चा की भी गई है वहाँ शक्ति के सृष्टि पक्ष की ओर कम ध्यान दिया गया है और विनाशकारी पक्ष की ओर अधिक।

इस सब का आशय एक तरह से इस ओर ध्यान दिलाना ही है कि सुख-दु:ख-केन्द्रित विचार चेतना के उन अन्य पक्षों की ओर ध्यान नहीं देता जो वास्तव में उसके अधिक गहरे और सार्थक पक्ष दिखाई देते हैं। दूसरी ओर वह स्रष्टा पक्ष के संदर्भ में उत्पन्न होने वाले भावों की चर्चा नहीं करता। यह ठीक है कि भरत के **नाट्यशास्त्र** में इनकी विशद चर्चा है, पर उन सब का संदर्भ नाट्य को समझने की चेष्टा है, न कि मनुष्य की चेतना को।

एक तरह से देखें तो भरत ने भी मानव के भाव जगत् को मानवीय सम्बन्धों से उत्पन्न होते हुए ही देखा है, मानव-सर्जन से उत्पन्न होते हुए नहीं। नाटक स्वयं

एक 'कृति' होते हुए भी मानवीय जगत् की 'अनुकृति' के रूप में ही प्रस्तुत होती है। नाटककार मनुष्य के उस भावात्मक जगत् का चित्रण नहीं करता जो उसके स्वयं के कृतित्व के द्वारा निर्मित होता है और न ही किसी नाटककार ने मानवीय सम्बन्धों को एक आदर्श कृतित्व की रचना के रूप में देखा है। **रामायण** शायद इसका अपवाद है। पर वह भी आदर्श मानवीय सम्बन्धों को किसी पुरुषार्थ के रूप में प्रस्तुत नहीं करती बल्कि कुछ ऐसा मानकर चलती है कि वह आदर्श मनुष्य को पूर्ण-रूपेण उपलब्ध है और उसे केवल उनको चरितार्थ करना है, उनकी खोज करना नहीं। यही नहीं, उसमें यह भी कहीं आभास नहीं मिलता कि मानवीय सम्बन्धों का आदर्श कृतित्व अनेक भिन्न-भिन्न रूप ले सकता है। इसलिए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि मनुष्य की चेतना के कृतित्व पक्ष को केन्द्र में रखकर विचार ही नहीं किया गया है। यह सच है कि 'कर्म' की बात भारतीय दर्शन में बहुत की गई है और उसका धर्म से अनिवार्य सम्बन्ध देखा गया है। इस अनिवार्य सम्बन्ध की विडम्बना धर्मसंकट को कृति द्वारा पकड़ने की चेष्टा में है। पर कर्म का जो कृतित्व पक्ष है और कृतित्व में जो एक सहज आनन्द है उसकी चर्चा बहुत कम है। इसी तरह कृति, कर्म द्वारा सृजित रचना, को देखकर जो भावात्मक जगत् उत्पन्न होता है उसकी चर्चा तो और भी कम है। इस संदर्भ में यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि किसी मानवीय कृति या कर्म द्वारा रचित रचना का रसास्वादन कोई उस प्रकार के 'फल' का चखना नहीं है जिसकी उपनिषद् में चर्चा की गई है। इसके लिए तो 'सहृदय' होना पड़ता है और सहृदय होने में भी परिश्रम या साधना की ज़रूरत होती है, इसके अभाव में कृति को समझना भी मुश्किल है और उसमें 'रस' लेना तो और भी दूर की बात है। भारतीय चिन्तन में 'लीला' शब्द से शायद यही अभिप्राय है। पर वास्तव में कृति-कर्म और इनके द्वारा रचित वस्तु के स्वरूप को और उससे सहज रूप में उत्पन्न 'रस' या 'आनन्द' को 'लीला' शब्द पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं करता। यहाँ इतना तो ज़रूर है कि 'लीला' शब्द में वह नकारात्मक ध्वनि नहीं है जो 'माया' शब्द के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है।

❑